राजा रामेश्वर राव और एक अन्य

बनाम

राजा गोविंद राव

(पी.बी. गजेंद्रगढ़कर और के.एन. वांचू, जे. जे.)

28 मार्च, 1961

जागीर- निज़ाम द्वारा दिया गया अनुदान- प्रतिकूल कब्ज़ा- स्थायी पट्टे के रूप में सीमित अधिकारों का दावा- अनुरक्षणीयता- भारतीय परिसीमा अधिनियम, 1908 (9/1908), अनुच्छेद 144।

यद्यपि संपत्ति में सीमित हित का स्वामित्व प्रतिकूल कब्जे से प्राप्त किया जा सकता है, किसी जागीर में स्थायी पट्टे की प्रकृति में कोई सीमित ब्याज आम तौर पर अर्जित नहीं किया जा सकता है, जिसे शुरू में अनुदान प्राप्तकर्ता के जीवन भर के लिए सुनिश्चित माना जाना चाहिए जब तक कि अनुदान स्वयं अन्यथा न दिखाता हो।

शंकरन बनाम पेरियासामी, (1890) आईएलआर 13 मद्रास 467, ठाकुर फ़तेहसिंहजी दिपसांगजी बनाम बामनजी अर्देशिर दलाल, (1903) आईएलआर 27 बॉम्बे 515, श्रीमत दैवसिखमनी पोन्नमबाला देसीकर बनाम पेरियायनन चेट्टी, (1936) एलआर 63 आईए 261 और गुलाबदास, जुगजीवनदास बनाम सूरत के कलेक्टर, (1878) एलआर 6 आई.ए. 54, संदर्भित।

हालाँकि पूर्व हैदराबाद राज्य में सामान्य तौर पर एक बेटे को पिता की जागीर का उत्तराधिकारी बनने की अनुमति दी जा सकती थी, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता था कि राज्य द्वारा दी गई जागीरें प्रकृति में स्थायी और वंशानुगत थीं, क्योंकि राज्य को आम तौर पर जागीर को वापस लेने का अधिकार था।

राजे विनायकराव नेमिवंत ब्राह्मण बनाम राजे श्रीनिवासराव नेमिवंत ब्राह्मण, आईएलआर [1942] नाग. 526 और अहमद-उन-निसा बेगम बनाम राज्य, एआईआर 1952 हैदराबाद 163, संदर्भित।

इसलिए, जहां एक परिवार में पीढ़ी-दर-पीढ़ी जागीर को जारी रखा जाता था, प्रत्येक जागीरदार को इसे अपने जीवन भर के लिए धारण करना चाहिए और प्रत्येक के खिलाफ परिसीमा उसके स्वामित्व की तारीख से शुरू होनी चाहिए।

चूँकि कोई जागीरदार अपने जीवनकाल से अधिक समय तक पट्टा नहीं दे सकता जब तक कि उसे सनद या राज्य के कानून द्वारा विशेष रूप से यह अधिकार न दिया गया हो, भारतीय सीमा अधिनियम के अनुच्छेद 144 के प्रयोजन के लिए एक जागीरदार के खिलाफ प्रतिकूल कब्जे की अवधि को दूसरे के खिलाफ नहीं जोड़ा जा सकता है। इस संबंध में एक जागीरदार की स्थिति एक मंदिर के प्रबंधक से भिन्न थी।

जगदीश नारायण बनाम नवाब सईद अहमद खान, ए.आई.आर. 1946 पी.सी. 59, संदर्भित।

श्रीमत दैवसिखामनी पोन्नमबाला देसिकाय बनाम पेरियन्नान चेट्टी, (1936) एल.आर. 63 आई.ए. 26 आई, विशिष्ट।

सिविल अपीलीय क्षेत्राधिकार: सिविल अपील संख्या 399/1957।

सिविल अपील संख्या । और 2/1954-55 में हैदराबाद उच्च न्यायालय के 27 जुलाई, 1954 के फैसले और डिक्री के खिलाफ अपील।

अपीलकर्ताओं की ओर से एस.टी. देसाई, सी. कृष्णा रेड्डी, टी. रामचन्द्र राव और एम.एस.के. शास्त्री।

प्रतिवादी की ओर से सदाशिव राव, जे.बी. दादाचंजी और एस.एन. एंडली।

28 मार्च, 1961। न्यायालय का निर्णय वांचू, जे. द्वारा सुनाया गया। हैदराबाद के पूर्व उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए प्रमाणपत्र पर यह एक अपील प्रस्तुत की गई है। प्रतिवादी द्वारा 1920 में ग्राम तिम्मापेट के संबंध में एक वाद प्रस्तुत किया गया था। प्रतिवादी का मामला यह था कि यह गाँव 1787 में निज़ाम द्वारा उनके पूर्वज हरिनारायण उर्फ राजा नेमीवंत बहादुर को दिया गया था। राजा हरिनारायण की मृत्यु होने पर, एक अन्य सनद द्वारा गाँव को 1811 में उनके पुत्र राजा गोविंद नारायण को दे दिया गया। तब से यह गांव राजा गोविंद नारायण के वंशजों के कब्जे में रहा। 1817 में, राजा गोविंद नारायण ने प्रतिवादियों के पूर्वज राजा राम कृष्ण राव को यह गांव ताहुद (यानी पट्टे) पर दे दिया। इस गांव के संबंध में इनाम पूछताछ 1901 में शुरू हुई और फिर अपीलकर्ताओं की ओर से एक आपत्ति की गई कि यह गांव निज़ाम द्वारा उनके पूर्वजों को दिया गया था और प्रतिवादी केवल गांव के पान मक्ता का हकदार था, इससे अधिक का नहीं। पान मक्ता का अर्थ है एक निश्चित राशि जो शासक या जागीरदार द्वारा किसी व्यक्ति को दी गई भूमि के लिए अनंत काल तक देय होती है। प्रतिवादी का मामला आगे यह था कि पट्टे के पैसे का भुगतान नियमित रूप से किया जा रहा था, हालांकि वाद से कुछ समय पहले इसमे कुछ चूक हुई थी। प्रतिवादी को पट्टे की धनराशि की वसूली के लिए मुकदमा दायर करना पड़ा, जिस पर डिक्री हो गई और डिक्रीटल राशि की वसूली हो गई। 1917 में पक्षों के बीच विवाद उत्पन्न हुआ और परिणामस्वरूप 1918 में प्रतिवादी ने अपीलकर्ताओं से गांव खाली करने के लिए कहा। हालाँकि, उन्होंने ऐसा करने से इनकार कर दिया। इसके बाद वर्तमान मुकदमा 1920 में दायर किया गया और प्रतिवादी का मामला यह था कि अपीलकर्ताओं को दिया गया पट्टा स्थायी पट्टा नहीं था और केवल जागीरदार के जीवनकाल तक के लिए ही प्राप्त किया जा सकता था और इसलिए प्रतिवादी गांव के कब्जे का हकदार था, विशेष रूप से जब अपीलकर्ताओं ने प्रतिवादी के प्रतिकूल स्वामित्व का दावा करना शुरू कर दिया था।

अपीलकर्ताओं द्वारा मुकदमे का विरोध किया गया था, और उनका मुख्य तर्क यह था कि गांव को निज़ाम द्वारा उनके पक्ष में एक निश्चित पान मक्ता के साथ बिलमक्ता के रूप में प्रदान किया गया था और इसलिए प्रतिवादी केवल प्रति वर्ष निश्चित पान मक्ता का हकदार था और वह उन्हें गांव से बेदखल करने का दावा नहीं कर सकता था। एक विकल्प के रूप में, परिसीमा की रक्षा का भी अनुरोध किया गया था, हालांकि लिखित बयान में यह स्पष्ट नहीं था कि परिसीमा की रोक परिसीमा अधिनियम के अनुच्छेद 142 के तहत थी या अनुच्छेद 144 के तहत। अन्य तर्क भी थे जिनसे हम वर्तमान अपील में चिंतित नहीं हैं।

विचारण न्यायालय ने बड़ी संख्या में मुद्दे विरचित किए, जिनका उत्तर प्रतिवादी के पक्ष में दिया गया और मुकदमे का फैसला सुनाया गया और वादी को गांव का कब्ज़ा प्राप्त करने के साथ-साथ प्रति वर्ष 931-12-0 ओ.एस. रुपये की दर से मध्यवर्ती लाभ वसूलने का हकदार माना गया।दो मुख्य तर्कों पर, विचारण न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि निज़ाम द्वारा अपीलकर्ताओं को गाँव नहीं दिया गया था जैसा कि उनके द्वारा दावा किया गया और अपीलकर्ता बेदखली के हकदार थे क्योंकि वे प्रतिवादी के पूर्वज द्वारा अपने पूर्वज को दिए गए पट्टे के तहत स्थायी पट्टेदार के अधिकारों का दावा नहीं कर सकते थे। इसके अलावा परिसीमा के प्रश्न पर, विचारण न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि मुकदमा अनुच्छेद 142 द्वारा द्वारा वर्जित नहीं था। ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि प्रतिकूल कब्जे का मामला विचारण न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया गया था।

उच्च न्यायालय में दो अपीलें प्रस्तुत की गईं थीं; उनमें से एक अपीलकर्ताओं द्वारा और दूसरी प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत की गई थी। प्रतिवादी की अपील केवल व्यक्तिगत लाभ की दर तक ही सीमित थी, जबकि अपीलकर्ताओं ने अपने अधिकार की प्रकृति और सीमा के बारे में अपने दो मुख्य तर्क दोहराए। अपीलों की सुनवाई उच्च न्यायालय

की एक खंडपीठ द्वारा की गई, लेकिन न्यायाधीशों की राय अलग-अलग थी। श्रीपत राऊ, जे., प्रतिवादी के अधिकारों की प्रकृति के साथ-साथ सीमा के प्रश्न पर विचारण न्यायालय से सहमत थे और उनकी राय थी कि अपीलकर्ताओं की अपील खारिज कर दी जानी चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय में परिसीमा के मामले में प्रतिकूल कब्जे की याचिका भी प्रस्तुत की गई थी; लेकिन उस याचिका को श्रीपत राऊ, जे. ने भी खारिज कर दिया था। इसके अलावा श्रीपत राव, जे. का मत था कि प्रतिवादी की अपील की अनुमति दी जानी चाहिए और प्रति वर्ष मध्यवर्ती लाभ की राशि को बढ़ाकर रु. 4,381-12-11 कर देना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य विद्वान न्यायाधीश खलीलुलज़मान सिद्दीक़ी ने स्वामित्व और प्रतिकूल कब्जे के दोनों प्रश्नों पर अपीलकर्ताओं के पक्ष में राय दी और उनका विचार था कि मुकदमा पूरी तरह से खारिज कर दिया जाना चाहिए।उसके बाद तीसरे विद्वान न्यायाधीश, अंसारी, जे. का संदर्भ था। वह स्वामित्व और सीमा के प्रश्नों पर श्रीपत राऊ, जे. से सहमत थे; लेकिन जब तक वह फैसला सुनाने आए तब तक हैदराबाद (जागीरों का उन्मूलन) विनियमन, संख्या LXIX/1358-एफ वर्ष 1951 से लागू हो चुका था और प्रतिवादी को कब्ज़ा नहीं दिया जा सका, अंसारी, जे. ने अभिनिर्धारित किया कि प्रतिवादी जागीरों के उन्मूलन पर देय मुआवजे का हकदार होगा।

चूंकि जागीर के उन्मूलन के कारण प्रतिवादी को दी जाने वाली राहत के संबंध में अंसारी, जे. के विचार श्रीपत राऊ, जे. से मजबूरन अलग थे, इसलिए मामले को हैदराबाद उच्च न्यायालय अधिनियम की धारा 8 के मद्देनजर तीन न्यायाधीशों की पूर्ण पीठ को भेजा गया। पूर्ण पीठ ने माना कि चूंकि अंसारी और श्रीपत राऊ, जे.जे., स्वामित्व और सीमा के सवालों पर सहमत थे, इसलिए ये मामले उनके द्वारा तय नहीं किए जा सकते थे और अंसारी, जे. के फैसले से यह मामले समाप्त होंगे। लेकिन राहत की प्रकृति जिस पर अंसारी, जे. को श्रीपत राऊ, जे. के दृष्टिकोण से अलग होना पड़ा,

पूर्ण पीठ ने अंसारी, जे. के दृष्टिकोण को बरकरार रखा। इसके बाद अपीलकर्ताओं ने इस न्यायालय में अपील करने की अनुमति के लिए एक प्रमाण पत्र के लिए आवेदन किया, जो प्रदान किया गया; और इस तरह ये मामला हमारे समक्ष आया है।

अपीलकर्ताओं के विद्वान अधिवक्ता ने हमारे समक्ष केवल दो बिंदुओं पर आग्रह किया है। सबसे पहले, उनका तर्क है कि सबूतों के आधार पर यह साबित हो गया है कि निज़ाम ने अपीलकर्ताओं को एक बिल्मक्ता सनद दी थी जिसमें यह गाँव भी शामिल था और इसलिए अपीलकर्ता प्रतिवादी को केवल पान मक्ता के भुगतान के अधीन स्थायी रूप से गाँव के कब्जे के हकदार थे। उनका दूसरा तर्क यह है कि भले ही यह माना जाए कि निज़ाम ने इस गांव सहित बिल्मक्ता सनद नहीं दी थी, अपीलकर्ताओं ने प्रति वर्ष किराए की एक निश्चित राशि के भुगतान के अधीन प्रतिवादी के तहत स्थायी पट्टेदार होने के सीमित अधिकार पर प्रतिकूल कब्जे से अपना स्वामित्व पूरा कर लिया था।

इसलिए पहला सवाल यह उठता है कि क्या अपीलकर्ताओं का यह मामला कि यह गांव निज़ाम द्वारा उन्हें दी गई बिल्मकता सनद में शामिल है और इसलिए उस सनद के आधार पर वे प्रतिवादी को सालाना एक निश्चित राशि के भुगतान की शर्त पर इस गांव पर स्थायी रूप से कब्जा करने के हकदार हैं, साबित होता है। अब यह विवादित नहीं है कि गांव प्रतिवादी के पूर्वजों को जागीर में दिया गया था। यह भी विवादित नहीं है कि 1817 में राजा गोविंद नारायण ने अपीलकर्ताओं के पूर्वज के पक्ष में एक कौल प्रदान किया था। उस कौल की शर्तों के तहत गांव को अपीलकर्ताओं के पूर्वज को प्रति वर्ष 1027-10-0 रुपये की निश्चित राशि पर ताहुद (पट्टे) पर दिया गया था। कौल में इसकी अवधि के बारे में किसी शब्द का उल्लेख नहीं है; लेकिन यह बताने के बाद कि गांव को सालाना एक निश्चित निश्चित राशि के लिए ताहुद पर दे दिया गया था, लेकिन यह बताने के बाद कि गांव को सालाना एक निश्चित निश्चित राशि के लिए

ताहुद पर अनुदान दिया गया था, कौल के अनुसार अनुदान प्राप्तकर्ता आत्मविश्वास के साथ पुराने और नए रैयतों का पुनर्वास करें और हर फसल के मौसम में निश्चित किश्तों के अनुसार सालाना ताहुद की राशि का भुगतान करें। जैसा कि कोई इस कौल को पढ़ता है, इसकी स्पष्ट शर्तों पर इसे अपीलकर्ताओं के पूर्वज को एक निश्चित राशि पर स्थायी पट्टा प्रदान करने के लिए नहीं पढ़ा जा सकता है, जिसमें बिल्कुल भी बदलाव नहीं किया जा सकता है। लेकिन अपीलकर्ताओं का दावा है कि जब मुकदमा दायर किया गया था तब वे 1817 से 100 से अधिक वर्षों से उसी किराए पर निर्बाध कब्जे में थे और इससे पता चलता है कि गांव उन्हें स्थायी पट्टे के रूप में दिया गया होगा। हम इस तर्क और इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर सकते कि अपीलकर्ताओं और उनके पूर्वजों ने एक ही किराए पर 100 वर्षों से अधिक समय तक कब्जा जारी रखा है, वही किराया 1817 के कौल को इसकी स्पष्ट शर्तों के सामने स्थायी पट्टा नहीं बना देगा। इसलिए निचली अदालतों का यह विचार सही था कि कौल में अपीलकर्ताओं को एक निश्चित वार्षिक भुगतान पर स्थायी पट्टे का अनुदान नहीं दिखाया गया है।

हालाँकि, अपीलकर्ताओं ने इस बात पर भरोसा किया कि उन्हें कौल दिए जाने के तुरंत बाद क्या हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि 1817 के तुरंत बाद अपीलकर्ताओं के पूर्वज ने विभिन्न प्रार्थनाओं के साथ वाजाब-उल-अर्ज (यानी, निज़ाम के लिए आवेदन) किया। उनमें से एक प्रार्थना बिल्मक्ता सनद के अनुदान के लिए थी। यह स्पष्ट रूप से कुछ सरकारी भूमि के संबंध में था, जो अपीलकर्ताओं के पूर्वजों के पास थी। वाजब-उल-अर्ज के पैरा 6 में कहा गया है कि "इन दिनों में आपके सेवक ने नियमित रूप से सरकारी बकाया चुकाया है और उम्मीद करते हैं कि उसे दीवानी की मुहर के साथ बिल्मक्ता की सनद प्राप्त होनी चाहिए"। पैरा 3 में कहा गया है कि "सरकारी तालुकाओं में से, जो भी ताहुद के तहत सौंपा गया है, आपका याचिकाकर्ता ताहुद राशि का भुगतान करेगा और तालुका की देखभाल और सुधार करेगा।" वाजब-

उल-अर्ज को निष्पक्ष रूप से पढ़ने पर इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता है कि अपीलकर्ताओं का पूर्वज प्रार्थना कर रहा था कि उसे सरकार से उनके पास मौजूद भूमि का बिल्मक्ता सनद दिया जाए। इस वाजब-उल-अर्ज के साथ उन गांवों की सूची संलग्न की गई थी जो स्पष्ट रूप से अपीलकर्ताओं के पूर्वजों के पास थे। इस सूची में 88 गाँव शामिल थे। इनमें से 85 गांवों के बारे में कोई कठिनाई नहीं है, जिन पर स्पष्ट रूप से अपीलकर्ताओं के पूर्वजों का कब्जा था; लेकिन सूची में तीन गांवों के बारे में विशेष उल्लेख था। ये थे: (1) तिम्मापेट, जागीर राजा नेमिवंत, सुगुर के जमींदार का मक्ता। यह उल्लेख किया जा सकता है कि अपीलकर्ताओं के पूर्वज सुगुर के जमींदार थे और इसी तरह उन्होंने बिलमक्ता की सनद के लिए प्रार्थना की थी; (2) गांव कोरोटकल, जागीर बहरामी, मकता जमींदार सुगुर से जुड़ा हुआ; और (3) पालमुर, जिसमें गट्टलपल्ली गांव भी शामिल है। ये तीन गाँव स्पष्टतः अन्य 85 गाँवों के समान नहीं थे। ग्राम तिम्मापेट प्रतिवादी के पूर्वज की जागीर में था और इसलिए प्राकृत रूप से अपीलकर्ताओं के पूर्वज को नहीं दिया जा सकता था। ग्राम कोरोटकल एक संलग्न जागीर थी जिसे बख्शी इस्माइल खान को सौंप दिया गया था, जबकि पालमूर गांव अपीलकर्ताओं के पूर्वज को सेरी के बदले में दिया गया था। सख्ती से कहें तो इन तीन गांवों को उन गांवों की सूची में शामिल नहीं किया जाना चाहिए था जिनके लिए बिल्मक्ता सनद की प्रार्थना की गई थी। किसी भी तरह इस वाजब-उल-अर्ज पर सरकार का आदेश था कि नियाबत दीवानी की मुहर के साथ एक सनद दी जाए। इस आदेश के आधार पर दी गई वास्तविक सनद को सख्ती से साबित नहीं किया गया है, हालांकि इसकी एक प्रति फैसले की प्रति में दिखाई देती है जिसे दायर किया गया है। इसलिए हम इस प्रति को संदर्भित करने का प्रस्ताव नहीं रखते हैं। हालाँकि, ऐसा प्रतीत होता है कि 1880 में निज़ाम द्वारा स्वयं अपीलकर्ताओं के पूर्वज को पिछले धारक की मृत्यु पर एक बिल्मक्ता सनद फिर से प्रदान की गई थी। बिलमक्ता की रकम (अर्थात निश्चित

वार्षिक भुगतान) 1,05,412 रुपये तय की गई। यह राशि वाजाब-उल-अर्ज के साथ सूची में शामिल 88 गांवों में से 85 गांवों के राजस्व से बनी है। शेष तीन गाँव जिनका हमने ऊपर उल्लेख किया है, उन्हें भी इस सनद की अनुसूची में "अलग जागीर के 3 गाँव काटें" शीर्षक के तहत दिखाया गया था। इस शीर्षक के अंतर्गत तीन गाँव तिम्मापेट, कोरोटकल और पामूर हैं। इन शब्दों के अर्थ, जिसके शीर्षक के तहत ये गाँव प्रकट होते हैं, की वर्तमान मुकदमे में व्याख्या की आवश्यकता है। प्रतिवादी का तर्क यह था कि शीर्षक से पता चलता है कि निज़ाम द्वारा दी गई बिल्मक्ता सनद में इन गांवों को शामिल नहीं किया गया था, क्योंकि इन गांवों का राजस्व 2,101 रुपये था, जो 1,05,412 रुपये की बिल्मक्ता राशि में शामिल नहीं था। प्रतिवादी की ओर से आगे तर्क दिया गया है कि इन तीन गांवों का बिल्मक्ता सनद से जुड़ी अनुसूची में इस तरह से उल्लेख करने का कारण यह था कि अपीलकर्ता के पूर्वज ने वाजब-उल-अर्ज के साथ दायर अपनी सूची में इन गांवों को गलत तरीके से शामिल किया था और तब से इन गांवों को सनदों की अनुसूची में शामिल किया गया लेकिन हमेशा बिलमक्ता से काटा हुआ दिखाया गया। हमारी राय है कि प्रतिवादी का यह तर्क सही है और निचली अदालतें इस संबंध में प्रतिवादी के तर्क को स्वीकार करने में सही थीं। तथ्य यह है कि इन गांवों का राजस्व 1,05,412 रुपये की बिलमक्ता राशि में शामिल नहीं है, यह दर्शाता है कि वे निज़ाम द्वारा बिलमक्ता अनुदान का हिस्सा नहीं हो सकते थे। हम अपीलकर्ताओं की ओर से इस तर्क को स्वीकार नहीं कर सकते कि इन गांवों का राजस्व शामिल नहीं किया गया था क्योंकि अपीलकर्ताओं के पूर्वज को तिम्मापेट और कोरोटकल के मामले में इस राजस्व की राशि जागीरदारों को देनी पड़ी थी और पामूर का राजस्व उन्हें सेरी में मुफ्त दिया गया था। तथ्य यह है कि ये तीन गाँव "अलग-अलग जागीर के तीन गाँवों की कटौती" शीर्षक के अंतर्गत आते हैं, साथ ही इस तथ्य के साथ कि उनका राजस्व 1,05,412 रुपये के बिलमक्ता अनुदान में शामिल नहीं है, यह

दर्शाता है कि वे बिल्मक्ता सनद का हिस्सा नहीं थे। यह सच है कि उनका उल्लेख अनुसूची में किया गया है, और सख्ती से कहें तो उनका उल्लेख वहां नहीं किया जाना चाहिए था; लेकिन हमारी राय में इसका कारण यह है कि अपीलकर्ताओं के पूर्वज ने उन्हें अपनी सूची में शामिल किया था और ऐसा लगता है कि उन्हें उस सूची से सनद की अनुसूची में डाल दिया गया था। लेकिन जिस तरह से उन्हें सनद की अनुसूची में रखा गया, उससे पता चलता है कि वे निज़ाम द्वारा दी गई सनद का हिस्सा नहीं थे। हमारा ध्यान अवर्जा की ओर भी गया, जिसके बारे में कहा जाता है कि इसे 1836 में तैयार किया गया था, जिसमें ये तीन गांव भी शामिल हैं। लेकिन अवर्जा महज एक अखबार है जिसमें हर दिन जारी होने वाली सनदों का एक नोट दर्ज किया जाता है। इसलिए तथ्य यह है कि इन तीन गांवों का उल्लेख अवर्जा में किया गया था, इस तथ्य से आसानी से समझाया जा सकता है कि उनका उल्लेख सनदों में किया गया था जो अपीलकर्ताओं के पूर्वज द्वारा उनके वाजब-उल-अर्ज के साथ प्रदान किए गए गांवों की सूची से तैयार किए गए थे। अवर्जा में इन तीन गांवों की मौजूदगी यह साबित नहीं करेगी कि गांवों को निज़ाम द्वारा अपीलकर्ताओं के पूर्वजों को बिलमक्ता के रूप में प्रदान किया गया था, जब तक कि निज़ाम द्वारा दी गई सनद इसे साबित नहीं करती। हमने पहले ही 1880 की सनद की जांच कर ली है जो रिकॉर्ड में है और हम निचली अदालतों से सहमत हैं कि बिल्मक्ता सनद में इन गांवों को शामिल नहीं किया गया था और यह केवल शेष गांवों तक ही सीमित था जिसके लिए अपीलकर्ताओं के पूर्वज ने निज़ाम को निश्चित वार्षिक राशि के रूप में 1,05,412 रु. का भुगतान किया था।

अपीलकर्ताओं की ओर से यह आग्रह किया गया था कि निज़ाम एक निरपेक्ष शासक था और वह किसी जागीरदार से कोई भी भूमि छीनकर किसी अन्य व्यक्ति को दे सकता था। निस्संदेह ऐसा ही है; लेकिन यहां तक कि जहां एक निरंकुश शासक किसी जागीरदार से कुछ जमीन छीन कर उसे किसी अन्य व्यक्ति को दे देता है, तो हमें

यह स्पष्ट लगता है कि वह जागीरदार को सूचित करेगा कि उसने जो कुछ भी उसे दिया था, उसे पूरी तरह या आंशिक रूप से ले लिया है और साथ ही वह दूसरे व्यक्ति को दी गई सनद में उचित शब्दों द्वारा यह स्पष्ट करेगा कि वह जागीरदार से छीनी गई भूमि उसे दे रहा है। किसी भी मामले में जहां जमीन पहले जागीरदार को दी गई थी, वहां किसी अन्य व्यक्ति को दी गई सनद में यह स्पष्ट संकेत होना चाहिए कि जागीरदार को जो जमीन दी गई थी, वह वापिस ले ली गई है और इस दूसरे व्यक्ति को दी जा रही है। जब हम 1880 की सनद पढ़ते हैं, हमें इसमें कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता है कि तिम्मापेट गांव जो प्रतिवादी के पूर्वज को अन्य गांवों के साथ जागीर के रूप में दिया गया था, उसे वापस लिया जा रहा है- किसी भी कीमत पर आंशिक रूप से- और भविष्य में प्रतिवादी के पूर्वज को केवल इस गांव के संबंध में अपीलकर्ताओं के पूर्वजों से एक निश्चित राशि का हक होगा और इससे अधिक नहीं। दूसरी ओर, सनद के पाठन में दुर्भाग्य से कुछ भी स्पष्ट नहीं है क्योंकि उसमें दी गई भूमि के संबंध में "आदि" शब्द एक से अधिक स्थानों पर दिखाई देते हैं। इसलिए हमें अनुसूची से जो भी मदद मिल सकती है, उसकी ओर रुख करना होगा।अनुसूची से पता चलता है कि ये तीन गाँव "अलग जागीर के तीन गाँवों को घटाएँ" शीर्षक के अंतर्गत थे। उससे केवल यही अनुमान लगाया जा सकता है कि इन तीनों गांवों को बिलमक्ता सनद में शामिल नहीं किया जा रहा है। किसी भी तरह से हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि निज़ाम तिम्मापेट गांव में प्रतिवादी के पूर्वजों के अधिकारों का एक हिस्सा छीनने और उन्हें अपीलकर्ताओं के पूर्वजों को प्रदान करने का इरादा रखता था। इसके अलावा यह दिखाने के लिए कुछ भी नहीं है कि प्रतिवादी के पूर्वजों को कभी सूचित किया गया था कि निज़ाम ने तिम्मापेट गांव में उनके अधिकार क्षेत्र का कुछ हिस्सा छीन लिया था। यदि कुछ भी हो, तो 1918 के अंत में गांव तिम्मापेट को अन्य लोगों के साथ-साथ हक मलकाना के 2 प्रतिशत के भुगतान के अधीन ज़त जागीर के रूप में प्रतिवादी के पक्ष

में स्थायी रूप से प्रदान कर दिया गया था। उस समय अपीलकर्ताओं के पूर्वज ने तिम्मापेट के बिलमक्तादार के रूप में अपने अधिकार के बारे में कुछ विवाद उठाया था, लेकिन वह अनिर्णीत रह गया था। इस मामले में सबूतों की समीक्षा करने पर यह निष्कर्ष अपरिहार्य है कि अपीलकर्ताओं के पूर्वज को कभी भी निज़ाम द्वारा बिलमक्ता सनद नहीं दी गई थी, जिसमें तिम्मापेट गांव भी शामिल था। इसलिए इस गांव पर उनका अधिकार पूरी तरह से 1817 के कौल पर निर्भर हैं, जिसने, जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, स्थायी पट्टा प्रदान नहीं किया। इसलिए अपीलकर्ताओं का मामला निज़ाम द्वारा उन्हें दी गई सनदों पर उनके स्वामित्व के आधार पर विफल होना चाहिए।

अब हम परिसीमा के प्रश्न पर आते हैं। उस संबंध में हमारे सामने मामला यह रखा गया है कि अपीलकर्ताओं ने प्रतिकूल कब्जे के माध्यम से इस भूमि के स्थायी पट्टेदार होने के सीमित अधिकार के लिए विहित किया है और इसकी उत्पत्ति 1875 में हुई घटना से पता चलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय इस गांव को लेकर तत्कालीन दोनों पक्षों के पूर्वजों के बीच झगड़ा चल रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिवादी के पूर्वज ने सरकार को एक आवेदन दिया था और राजस्व के सदस्य ने उन्हें इस गाँव का कब्ज़ा देने के आदेश जारी किए थे। इसके बाद अपीलकर्ताओं के पूर्वज ने उस आदेश के खिलाफ प्रधान मंत्री को एक अभ्यावेदन दिया जिसमें यह कहा गया था कि प्रतिवादी के पूर्वज ने उक्त गांव को अस्सी साल से भी पहले अपीलकर्ताओं के पूर्वज को बिलमक्ता (यानी, एक निश्चित राशि पर) के माध्यम से प्रदान किया था और अपीलकर्ताओं के पूर्वज का उस पर हमेशा से कब्जा था और वे नियमित रूप से देय राशि का भुगतान कर रहे थे; इसलिए अपीलकर्ताओं के पूर्वज ने प्रार्थना की कि प्रतिवादी के पूर्वज को भूमि का कब्जा सौंपने का आदेश रद्द कर दिया जाए। यह उल्लेखनीय है कि इस अभ्यावेदन में यह मामला प्रस्तुत किया गया था कि गांव को प्रतिवादी के पूर्वज द्वारा अपीलकर्ताओं के पूर्वज को बिलमक्ता के रूप में प्रदान किया

गया था, न कि निज़ाम या सरकार द्वारा अपीलकर्ताओं के पूर्वज को। हालाँकि जो भी हो, प्रधान मंत्री ने आदेश दिया कि चूंकि अपीलकर्ताओं के पूर्वज का लंबे समय से कब्जा था, इसलिए उन्हें बेदखल करने का कोई आदेश पारित नहीं किया जा सकता था। इसके बाद प्रतिवादी के पूर्वज ने प्रधानमंत्री के इस आदेश को बदलवाने की कोशिश की लेकिन असफल रहे और परिणामस्वरूप अपीलकर्ताओं के पूर्वज का उस पर कब्जा बना रहा। यह आग्रह किया गया है कि इससे पता चलता है कि अपीलकर्ताओं के पूर्वज ने दावा किया था कि वह प्रतिवादी के पूर्वज के खिलाफ स्थायी पट्टेदार के रूप में कब्जे का हकदार था और इस दावे का प्रतिवादी के पूर्वज द्वारा विरोध किया गया था और प्रतिरोध विफल रहा। इसलिए यह माना जाना चाहिए कि इस सीमित प्रकार के प्रतिकूल कब्जे का दावा प्रतिवादी के पूर्वज की जानकारी में किया गया था और परिणामस्वरूप 1875 के बारह साल बाद प्रतिकूल स्वामित्व को सही किया जाएगा और अनुच्छेद 144 बेदखली के लिए वर्तमान मुकदमे को रोक देगा।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि संपत्ति में सीमित हित के साथ-साथ मालिक के रूप में पूर्ण स्वामित्व का प्रतिकूल कब्ज़ा हो सकता है: देखें शंकरन बनाम पेरियासामी ((1890) आईएलआर 13 मद्रास 467); ठाकोर फतेहसिंगजी दिपसांगजी बनाम बामनजी अर्देशिर दलाल ((1903) आईएलआर 27 बंबई 515); और श्रीमत दैवसिखमनी पोन्नमबाला देसीकर बनाम पेरियायनन चेट्टी ((1936) एलआर 63 आईए 261; (1936) आईएलआर 59 मद्रास 809)। हालाँकि, वर्तमान मामला एक ऐसा मामला है जहाँ मूल कौल एक जागीरदार द्वारा प्रदान किया गया था और सवाल उठता है कि क्या जागीर के मामले में स्थायी पट्टे की प्रकृति में सीमित हित का प्रतिकूल कब्ज़ा हो सकता है। उस संबंध में किसी को जागीर के प्रसंगों को देखना होगा, और जागीर का पहला प्रसंग यह है कि इसे प्रथम दृष्टया जीवन भर के लिए दी गई संपत्ति के रूप में माना जाना चाहिए: गुलाबदास जुगजीवनदास बनाम सूरत के कलेक्टर ((1878) एलआर

6 आई.ए. 54.)। वर्तमान मामले में भी संकेत है कि 1787 में राजा हरिनारायण को जो जागीर दी गई थी, वह जीवन भर के लिए थी, क्योंकि हम पाते हैं कि राजा हरिनारायण की मृत्यु पर 1811 में उनके पुत्र राजा गोविंद नारायण को एक नई सनद दी गई थी। इसी तरह का निष्कर्ष इस तथ्य से भी निकाला जा सकता है कि 1880 के अंत में अपीलकर्ताओं के पूर्वज राजा रामेश्वर राव को उनके पिता की मृत्यु पर बिल्मक्ता के पिछले धारकों के पक्ष में कुछ सनदों के बावजूद एक बिल्मक्ता सनद प्रदान की गई थी। लेकिन अपीलकर्ताओं का तर्क है कि 1811 के बाद राजा गोविंद नारायण के वंशजों को कोई नई सनद नहीं दी गई और इसलिए यह माना जाना चाहिए कि राजा गोविंद नारायण की मृत्यु के बाद जागीर वंशानुगत हो गई और केवल अनुदान प्राप्तकर्ता के जीवनकाल के लिए नहीं थी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि रिकॉर्ड में ऐसी कोई सनद नहीं है जो राजा गोविंद नारायण के वंशजों को दी गई हो; लेकिन अपीलकर्ताओं की ओर से इस बात का भी कोई सबूत नहीं है कि राज्य की नीति में बदलाव के कारण वास्तव में राजा गोविंद नारायण के वंशजों को ऐसी कोई सनद नहीं दी गई थी। अपीलकर्ताओं की ओर से हैदराबाद सरकार के "जागीर प्रशासन" नामक प्रकाशन खंड । पृष्ठ 3 पर भरोसा रखा गया है, जहां निम्नलिखित अंश दिखाई देता है: -

> "ज़त या व्यक्तिगत अनुदान- मूल रूप से केवल जीवन भर के लिए मान्य थे। हालांकि, यदि ऐसे अनुदान प्रदान करने वाली सनद में स्थायित्व का संकेत देने वाला कोई शब्द होता है तो अनुदान को अनंत काल तक के लिए माना जाता था। पूर्व में अनुदान प्राप्तकर्ता की मृत्यु पर, जागीर संलग्न की जाती थी और उनके ज्येष्ठ पुत्र के पक्ष में एक अन्य सनद पुनः जारी की जाती थी।"

इसके आधार पर यह आग्रह किया गया है कि जागीर की कुर्की और ज्येष्ठ पुत्र के पक्ष में नई सनदों को फिर से जारी करने की प्रणाली हैदराबाद में अप्रचलित हो गई

और इसलिए जागीरें वंशानुगत हो गईं। सबसे पहले, यह अनुच्छेद यह नहीं दर्शाता है कि जागीर की कुर्की और दूसरी सनद जारी करने की प्रणाली कब समाप्त हुई। दूसरा, यहां तक कि इस अनुच्छेद से पता चलता है कि जागीर केवल जीवन भर के लिए ही मान्य थी जब तक कि जागीर अनुदान की शर्तों में यह दिखाने के लिए कुछ न हो कि यह अनंत काल के लिए थी। राजा गोविंद नारायण का जागीर अनुदान रिकॉर्ड में है और इसमें यह दिखाने के लिए कुछ भी नहीं है कि यह हमेशा के लिए दिया गया था। इसलिए, इसे केवल जीवन भर के लिए अनुदान माना जाना चाहिए; किसी भी हालत में यह स्पष्ट है कि यह स्पष्ट है कि राजा गोविंद नारायण के उत्तराधिकारी होने पर प्रत्येक उत्तराधिकार पर सनद देने की व्यवस्था निश्चित रूप से लागू थी, क्योंकि उन्हें एक नई सनद दी गई थी। इसलिए, उसके मामले में यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि जागीर उसे केवल जीवन काल तक के लिए ही दी गई थी। जे विनायकराव नेमिवंत ब्राह्मण बनाम राजे श्रीनिवासराव नेमिवंत ब्राह्मण (आईएलआर [1942] नागपुर 526) पर भी भरोसा किया गया, जहां भारत सरकार, विदेश विभाग के 1877 के एक पत्र को उद्धृत किया गया है कि-

> "गवर्नर-जनरल इन काउंसिल भी इस दृष्टिकोण को स्वीकार करता है कि ये इनाम हैदराबाद राज्य के रिवाज के अनुसार आयोजित किए जाते हैं, जो इस बिंदु पर विशिष्ट प्रावधान की अनुपस्थिति के बावजूद, ऐसी जागीरों को भावी पीढ़ी तक जारी रखने की अनुमति देता है, लेकिन साथ ही राज्य के पास अपनी इच्छानुसार ऐसे अनुदानों को फिर से शुरू करने का अधिकार सुरक्षित है।"

लेकिन इस पत्र से भी पता चलता है कि राज्य को स्वेच्छा से अनुदान को फिर से शुरू करने का अधिकार प्राप्त है और यदि ऐसा है तो यह नहीं कहा जा सकता है कि हैदराबाद में दी गई जागीरें स्थायी और वंशानुगत थीं, यद्यपि यह हो सकता है कि

सामान्य प्रक्रिया में पुत्र को पिता का उत्तराधिकारी बनने की अनुमति दी गई हो। हालांकि, राज्य को हमेशा स्वेच्छा से अनुदान को फिर से शुरू करने का अधिकार था। अहमद-उन-निसा बेगम बनाम राज्य (एआईआर 1952 हैदराबाद 163, 167) मामले में हैदराबाद के पूर्व उच्च न्यायालय के पांच न्यायाधीशों की पीठ ने हैदराबाद में जागीरों की प्रकृति पर विचार किया। अंसारी, जे. ने 1947 से पहले के पूर्व राज्य हैदराबाद की प्रिवी काउंसिल के दो मामलों और शासक के कुछ फरमानों का जिक्र करते हुए हैदराबाद में जागीरों की प्रकृति के बारे में निम्नानुसार टिप्पणी की: --

> "ऊपर उल्लिखित अधिकारियों का संचयी प्रभाव यह है कि इस राज्य में जागीर के कार्यकाल में भूमि में सूदखोरी के अधिकार शामिल थे जो प्रत्येक अनुदान प्राप्तकर्ता की मृत्यु पर समाप्त हो जाते थे, उसके जीवन के दौरान अहस्तांतरणीय थे, मृतक धारक के उत्तराधिकारियों को संपत्ति मिलती थी नए अनुदान प्राप्तकर्ता और संपत्ति प्रदान करने का अधिकार शासक में निहित था और उसका प्रयोग उसके पूर्ण विवेक पर निर्भर करता था। फिर भी, जागीरदारों के पास अपने जीवन के दौरान अपनी संपत्ति के प्रबंधन, सूदखोरी और अन्य महत्वपूर्ण विशेषाधिकारों का आनंद लेने के मूल्यवान अधिकार थे, जिससे उन्हें काफी मौद्रिक लाभ मिलते थे।"

जागीरदारी अवधि की प्रकृति के बारे में अंसारी, जे. के इस दृष्टिकोण को बेंच का गठन करने वाले अन्य विद्वान न्यायाधीशों द्वारा स्वीकार किया गया। इसलिए केवल इस तथ्य से कि राजा गोविंद नारायण के उत्तराधिकारियों को दी गई सनदें इस मामले में पेश नहीं की गईं, या यहां तक कि इस तथ्य से कि उन्हें ऐसी कोई सनदें नहीं दी गईं, हैदराबाद में जागीरदारी कार्यकाल की प्रकृति पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा। 1918 में ही पहली बार हमें पता चला कि अन्य गांवों के साथ इस गांव को भी प्रतिवादी को हमेशा

के लिए सौंप दिया गया था। यह दिखाने के लिए कुछ भी नहीं है कि इससे पहले प्रतिवादी के पूर्वजों के पास जागीर में स्थायी वंशानुगत अधिकार थे। इसलिए प्रारंभिक धारणा यह है कि जागीरें केवल अनुदान प्राप्तकर्ता के जीवनकाल के लिए होती हैं, वर्तमान मामले में 1918 की सनद तक आने तक कायम रहनी चाहिए। इसलिए उस समय तक यह माना जाना चाहिए कि जागीरें 1961 के प्रतिवादी के विभिन्न पूर्वजों के पास केवल उनके जीवन भर के लिए थीं। ऐसे मामले में जहां एक परिवार में पीढ़ी-दर-पीढ़ी अनुदान जारी रहता है और प्रत्येक अनुदान प्राप्तकर्ता इसे अपने जीवन भर रखता है, किसी एक अनुदान प्राप्तकर्ता के खिलाफ सीमा उसके स्वामित्व की तिथि से लागू होनी शुरू हो जाती है। इसे जगदीश नारायण बनाम नवाब सईद अहमद खान (एआईआर 1946 पीसी 59) में प्रिवी काउंसिल द्वारा मान्यता दी गई थी, जहां यह देखा गया कि जहां प्रत्येक अनुदान प्राप्तकर्ता अपने जीवनकाल के लिए एक जागीर रखता है, वह सीमा उस तारीख से उत्तराधिकारी के खिलाफ चलना शुरू हो जाएगी जब उसका स्वामित्व उसे पिछले उत्तराधिकारी की मृत्यु पर अर्जित हुआ था।इस तथ्य से कि जागीर का अनुदान केवल अनुदान प्राप्तकर्ता के जीवनकाल के लिए होता है और उसके बेटे को जब जागीर मिलती है तो उसे नया अनुदान मिलता है। एक जागीरदार के लिए यह अधिकार नहीं था कि वह ऐसा हस्तांतरण कर सकता है जो उसके जीवनकाल से अधिक समय तक चल सकता है और इस प्रकार एक जागीरदार स्थायी पट्टा नहीं दे सकता, जब तक कि वह विशेष रूप से सनद या राज्य के कानून के तहत ऐसा करने का हकदार न हो। इसी प्रकार ऐसे मामलों में परिसीमा केवल उस तारीख से उत्तराधिकारी के खिलाफ लागू होगी जब उसका स्वामित्व उसे पिछले उत्तराधिकारी की मृत्यु पर अर्जित हुआ था। नतीजतन, अपीलकर्ता प्रतिवादी के खिलाफ प्रतिकूल कब्जे के शुरुआती बिंदु के रूप में राजा रामाराव के समय 1875 में जो हुआ उसका लाभ नहीं उठा सकते हैं। जहां तक प्रतिवादी का सवाल है, वह स्पष्ट रूप से 1910 में जागीर पप्राप्त

हो गई थी और उसके मामले में सीमा 1910 से शुरू होगी। वर्तमान मुकदमा 1920 में लाया गया था और इसलिए जहां तक प्रतिवादी का सवाल है, उसके विरुद्ध प्रतिकूल कब्जे से सीमित स्वामित्व को भी पूर्ण करने का कोई सवाल ही नहीं है।

अपीलकर्ता के विद्वान अधिवक्ता ने इस संबंध में हमारा ध्यान दैवासीखामनी ((1936) एल.आर. 63 आई.ए. 261: (1936) आई.आई.एल.आर 59 मद्रास 809) के मामले की ओर आकर्षित किया, जहां प्रिवी काउंसिल ने यह अभिनिर्धारित किया कि परिसीमा अधिनियम के अनुच्छेद 144 के तहत यह मुकदमा वर्जित था। हालाँकि यह एक ऐसा मामला था जहां एक प्रबंधक द्वारा मंदिर की भूमि का एक स्थायी हिस्सा प्रदान किया गया था। उस मामले में साबित हुए कुछ तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह अभिनिर्धारित किया गया कि पट्टेदार ने प्रतिकूल कब्जे से स्थायी अधिकार हासिल कर लिया था, भले ही मंदिर के प्रबंधक के पास कुछ परिस्थितियों को छोड़कर, स्थायी पट्टा देने का कोई अधिकार नहीं है। वह मामला हमारी राय में स्पष्ट रूप से वर्तमान मामले के तथ्यों से अलग है। यह सच है कि किसी मंदिर के प्रबंधक के पास आम तौर पर कुछ परिस्थितियों को छोड़कर मंदिर की संपत्ति का स्थायी पट्टा देने का कोई अधिकार नहीं होता है; इसलिए किसी मंदिर के प्रबंधक द्वारा दिया गया स्थायी पट्टा रद्द करने योग्य हो सकता है, लेकिन शुरू से ही रद्द नहीं होता है और इसलिए जब तक कि उत्तराधिकारी प्रबंधक इसे वर्जित नहीं कर देता, इसे निष्क्रिय नहीं किया जा सकता है। इसके अलावा उस मामले में मंदिर संपत्ति का मालिक था और पिता से पुत्र के उत्तराधिकार का कोई सवाल ही नहीं था। दूसरी ओर, जागीर के मामले में, धारक कुछ समय के लिए संपत्ति का मालिक नहीं होता है; जब उसके बेटे को वह संपत्ति प्रपट होती है तो वह संपत्ति को नए अनुदान प्राप्तकर्ता के रूप में रखता है न कि वंशानुगत उत्तराधिकार के आधार पर। एक जागीरदार को उसे दी गई जागीर के किसी भी हिस्से का स्थायी हस्तांतरण करने का कोई अधिकार नहीं है; यदि वह स्थायी पट्टे के

माध्यम से भी स्थायी हस्तांतरण करता है तो यह उसके जीवनकाल तक के लिए उचित हो सकता है, लेकिन उसकी मृत्यु के बाद यह शून्य और निष्क्रिय हो जाता है। इसलिए, जबकि किसी मंदिर के प्रबंधक द्वारा दिए गए स्थायी पट्टे के मामले में, जो संपत्ति का मालिक है, प्रतिकूल कब्जे द्वारा सीमित स्थायी हित के लिए निर्धारित करना संभव हो सकता है, जागीर की स्थिति में ऐसा करना असंभव होगा, ऐसे मामले में परिसीमन उत्तराधिकारी के विरुद्ध उस तारीख से चलना शुरू हो जाएगा जब उसका स्वामित्व पिछले उत्तराधिकारी की मृत्यु पर उसे अर्जित होता है और जागीर के पिछले धारक के खिलाफ समयावधि बीत जाने का कोई फायदा नहीं उठाया जा सकता है। इसके अलावा, ऐसे मंदिर अनुदान के मामले में, समय की लंबी अवधि कभी-कभी इस निष्कर्ष को जन्म दे सकती है कि हस्तांतरण ऐसी परिस्थितियों में था जो स्थायी पट्टे को उचित ठहराएगा। हालाँकि, जागीरदारों द्वारा दिए गए स्थायी पट्टों के मामले में ऐसा कोई अनुमान संभव नहीं है। इस दृष्टि से इसलिए अपीलकर्ताओं का मामला जो उन्होंने प्रतिवादी के खिलाफ एक स्थायी पट्टेदार के सीमित हित के लिए विहित किया है, विफल होना चाहिए।

इसलिए अपील विफल होती है और एतद्द्वारा लागत सहित खारिज की जाती है।

अपील खारिज।

यह अनुवाद आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस टूल '**सुवास**' के जरिए अनुवादक खुशबू सोनी द्वारा किया गया है।

अस्वीकरण : यह निर्णय वादी के प्रतिबंधित उपयोग के लिए उसकी भाषा में समझाने के लिए स्थानीय भाषा में अनुवादित किया गया है और किसी अन्य उद्देश्य के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है। सभी व्यावहारिक और आधिकारिक उद्देश्यों के लिए, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण प्रामाणिक होगा और निष्पादन और कार्यान्वयन के उद्देश्य से अंग्रेजी संस्करण ही मान्य होगा।